Vol. 6, Issue: 11, November: 2018
ISSN:(P) 2347-5404 ISSN:(O)2320 771X

# आधुनिक भारत में दलित चिंतन की दशा–एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. सतीश कुमार सिंह,
एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
डी.एस.एन. पी.जी. कालेज, उन्नाव

**शोध सार**

*दलित इतिहास में सदा उपस्थित रहा है, परन्तु उसकी भूमिका को उचित ढंग से प्रस्तुत नहीं किया गया है। तमाम इतिहासकारों ने आधुनिक भारत का इतिहास लिखते समय राजाराम मोहन राय की वृहत्तर चर्चा की परन्तु दलित नायक ज्योतिबा फूले का जिक्र तक नहीं किया। सुमित सरकार ने यद्यपि जातीय चेतना को समझते हुए इतिहास को नीचे से देखने की संभावनाओं को खोजने का प्रयास किया। दलित समाज की मुख्य समस्या सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से ऊपर उठाने की थी। डॉ0 भीमराव अम्बेडकर दलित मुक्ति को पहला लक्ष्य मानते थे। उन्होंने महाड़ तालाब एवं कालाराम मंदिर में अछूतों के प्रवेश के लिए एक लम्बा संघर्ष किया। बाबा साहेब ने अपनी पुस्तक जाति का विनाश (एनीहिलेशन ऑफ कास्ट) में लिखा है कि वर्ग संघर्ष के लिए जाति का विनाश जरूरी है। महात्मा गांधी ने अपने, कार्यक्रमों में अछूतों के उत्थान के लिए पाठशालायें खोलने व मंदिर में प्रवेश देने पर जोर दिया। महात्मा गांधी अछूतों के लिए तो कार्य करना चाहते थे परन्तु समाज में अस्पृश्यता के निवारण का उनके पास कोई उपाय नहीं था। मान्यवर कांशीराम ने 1980 में बामसेफ का गठन किया। उन्होंने दलित वर्गों को बहुजन कहा और व्यवस्था का लाभ लेने वालों को मनुवादी कहा। दलित राजनीति में 1990 से प्रतिक्रिया का दौर शुरू हुआ अब सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय का मुद्दा उठने लगा। आज दलितों का एक वर्ग दलितों के लिए ही अस्पृश्य है जो ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रसित है और जिसके लिए शेष दलित समाज उपेक्षित है।*

**मुख्य बिन्दुः** *लेखन में उपेक्षा, दलित अस्मिता, संघर्ष, जाति का विनाश और दलित ब्राह्मणवाद*

दलित सामाजिक रूप से उपेक्षित, शोषित और उत्पीड़ित रहे हैं। बड़े खेद का विषय है कि दलित वर्ग प्राचीनकाल से इतिहास में उपस्थित रहा है, परन्तु उसका अस्तित्व कहीं दिखायी नहीं देता है। यदि इतिहास में कहीं दलितों की भूमिका दिखायी देती भी है, तो उसे प्रस्तुत ही नहीं किया गया या इतने हल्के ढंग से प्रस्तुत किया गया जिसका कोई विशेष महत्व नहीं है। आधुनिक भारतीय इतिहास में आर0सी0 मजुमदार, के0के0 दत्त और एच0सी0 राय चौधरी (एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इंडिया के लेखक) जैसे इतिहासकारों ने राजाराम मोहन राय की वृहत्तर चर्चा की परन्तु वहीं ज्योतिबा फूले का जिक्र तक नहीं किया।[1] परन्तु आज यह बात साबित हो चुकी है कि जिस तरह पुर्नजागरण के पितामह राजाराम मोहन राय थे उसी प्रकार आधुनिक युग में फूले जी ने भी दलित चेतना जाग्रत करने में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। उन्होंने दलित समाज को ऐसी दिशा प्रदान की जिसमें सावित्रीबाई फूले, डा. भीमराव अम्बेडकर एवं आगे आने वाले दलित चिंतकों का मार्ग प्रशस्त किया। इतिहासकार सुमित सरकार की पुस्तक 'मार्डन इण्डिया' 1885 से प्रारम्भ होती है, जब ज्योतिबा फूले जिन्दा थे परन्तु इस पुस्तक में भी फूले का उल्लेख नाम मात्र के लिए लिया गया। सुमित सरकार की इस पुस्तक में 'इतिहास को नीचे से देखने' की सम्भावनाओं को खोजा गया था।[2] यद्यपि सुमित

सरकार ने जातीय चेतना को तो समझा परन्तु उतना विस्तृत विश्लेषण नहीं किया जितना होना चाहिए।[2]

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण मोड़ तब आया जब मार्क्सवादी विचारधारा का आगमन हुआ। इस विचारधारा ने इतिहास लेखन के फलक को व्यापक बनाया। अर्थव्यवस्था इस विचारधारा का केन्द्र बिन्दु थी। इस व्यवस्था के केन्द्र में समाज का मेहनतकश मजदूर एवं किसान था। दलित वर्ग यहाँ सर्वहारा वर्ग के रूप में उपस्थित था परन्तु अछूत के रूप में उपस्थित नहीं था। दलित वर्ग वहां पर आर्थिक रूप से शोषित वर्ग की भांति था परन्तु दलितों की मुख्य समस्या सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से शोषित वर्ग को ऊपर उठाने की थी। दलित वर्ग को आवश्यकता थी एक ऐसी विचारधारा की जो उनके अछूत होने की मानसिकता से उन्हें ऊपर उभार कर ला सके। इस कार्य को डा. भीमराव अम्बेडकर ने पूर्ण करने का प्रयास किया। जब बाबा साहब अम्बेडकर ने दलितों को संगठित करना शुरू किया तो उस समय कांग्रेस और कम्युनिस्ट दो अलग धाराएं बह रही थी और इनसे अलग तीसरी अम्बेडकर की धारा बहने लगी थी।[3] कांग्रेस सभी भारतीयों को समान मानकर विदेशी शासन से मुक्ति का रास्ता खोज रही थी। दूसरी और कम्युनिस्ट विदेशी शासन से मुक्ति को पर्याप्त न समझकर मेहनतकश की मुक्ति के साथ–साथ समाजवादी क्रान्ति पर जोर दे रहे थे। डा. अम्बेडकर दलितों की मुक्ति को पहला लक्ष्य मानते थे। यद्यपि कम्युनिस्टों एवं अम्बेडकर की विचारधारा में कई मुद्दों को लेकर साम्यता दिखाई देती है लेकिन राजनीतिक रूप से दोनों के मध्य समझौता हो सकता था परन्तु ये क्यों नहीं हुआ। यह एक शोध का विषय हो सकता है।

डा. अम्बेडकर के नेतृत्व में सीधी कार्यवाही की पहली लड़ाई दलितों ने 1927 में सार्वजनिक तालाब से पानी लेने के अधिकार को लेकर महाड़ में लड़ी थी। यह वह लड़ाई जिसमें दलितों ने इतिहास रचा था। यह एक ऐसी घटना थी जो आधुनिक भारत में पहली बार घटी।[4] इस घटना का विस्तृत विवरण बाबा साहब अम्बेडकर ने अपने निबन्ध 'अछूतों का विद्रोह' में किया। वे लिखते हैं कि महाड़ में चाबदार तालाब एक मात्र ऐसा तालाब था जहां से अछूतों को छोड़कर कोई भी पानी ले सकता था। तालाब नगरपालिका के अधीन था और सार्वजनिक था। अछूतों को पानी केवल नगर से दूर अछूतों के इलाके में स्थित कुएँ से ही मिल सकता था। 1923 में बम्बई विधानसभा परिषद में यह प्रस्ताव पारित हुआ कि अछूत वर्गों को सभी सार्वजनिक सुविधाओं जैसे तालाब, कुओं, धर्मशालाओं आदि का उपयोग करने की छूट दी जाती है परन्तु इसका पालन नहीं हुआ। तीन साल बाद अछूतों का एक सम्मेलन कोलावा जनपद में 18 मार्च से 20 मार्च, 1927 तक डा. अम्बेडकर की अध्यक्षता में हुआ। यह अछूतों का कोलावा में पहला सम्मेलन था। 20 मार्च, 1927 को 2500 अछूतों के जत्थे ने डा. अम्बेडकर के नेतृत्व में तालाब का पानी पिया। हिन्दुओं ने तालाब को निजी सम्पत्ति बताकर न्यायालय से अस्थायी निषेधाज्ञा प्राप्त कर ली। इसी प्रकार अम्बेडकर के नेतृत्व में 2 मार्च, 1930 को 5000 अछूतों ने कालाराम मन्दिर में कूच किया जहां खुला संघर्ष हुआ।[5]

बाबा साहब की मान्यता थी कि सामाजिक क्रान्ति में नारी को भी पुरूष वर्ग का सहयोगी बनना चाहिए।[6] बाबा साहब ने दलितोद्धार मुहिम की शुरूआत 20 जुलाई, 1921 को बम्बई में बहिष्कृत हितकारिणी सभा से की थी।[7] इस सभा का उद्देश्य अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को आगे बढ़ाते हुए दलित बस्तियों में स्कूलों और छात्रावास की स्थापना करना था इस सभा कार्यक्रमों में महिलाओं की हिस्सेदारी भी होती थी। मंदिर प्रवेश के लिए अमरावती में 13 नवम्बर, 1927 एवं महाड़ सत्याग्रह में महिलाएं भी शामिल हुई थीं। दलित चिन्तक मोहनदास नैमिशराय अपने प्रसिद्ध लेख 'दोनों गालों पर थप्पड़' में इन घटनाओं को दलितों द्वारा समाज परिवर्तन के लिए संघर्ष के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना मानते हैं। नैमिशराय लिखते हैं कि गांधी के दाण्डी मार्च का राजनैतिक दृष्टि से जो महत्व

रहा है वही सामाजिक दृष्टि से डा. अम्बेडकर के तालाब मार्च का था।[8] 1928 में बम्बई मण्डल की स्थापना हुई जिसकी अध्यक्षता स्वयं डा. अम्बेडकर की पत्नी रमाबाई ने की थी। 1930 नागपुर में डिप्रेस्ड क्लास सम्मेलन के कार्यक्रम में भी महिलाएं सामिल हुई थीं। मोहनदास नैमिशराय ने अपने लेख में दलित महिला उत्पीड़न का मुद्दा उठाते हुए भँवरीबाई की पीड़ा को उकेरने का प्रयास किया। भँवरीबाई मर्दवाद और वर्णवाद दोनों का शिकार रहीं थी। यह दलित महिलाओं पर हुए अत्याचार की ऐसी घटना है जो राजस्थान के जाति अहंकार के इतिहास में काले अध्याय के रूप में दर्ज है।[9]

भारतीय समाज के संदर्भ में यह तथ्य सटीक बैठता है कि भारत का समाज वर्गीय समाज होने के साथ–2 जातीय समाज भी है। यदि वर्गीय समाज होता तो भारत में आर्थिक क्रान्ति हो गयी जिसे वामपंथी लाना चाहते थे। दलित चिंतक वर्ग संघर्ष का विरोधी नहीं है। डा. अम्बेडकर की किताब जाति का विनाश (एनीहिलेशन ऑफ कास्ट) में लिखा है कि वर्ग संघर्ष के लिये जाति का विनाश जरूरी है। जातियाँ मिटेंगी तो वर्ग बनेंगे। जातिव्यवस्था को बनायें रखकर वर्ग संघर्ष की बात करना बेमानी है।

डा. अम्बेडकर ने सत्ता में भागीदारी के लिए दलितों के संवैधानिक अधिकारों हेतु उसकी अल्पसंख्यक समिति को ज्ञापन दिया जिसमें उन्होंने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन मण्डल की मांग की थी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री इस मांग को स्वीकार कर लिया। इतिहास में 'कम्यूनल अवार्ड' के नाम से जाना जाता है। दलित आन्दोलन के राजनैतिक विकास में यह एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है। जब दलित वर्ग ने एक तीसरे राजनैतिक ध्रुव के रूप में अपनी पहचान बनायी। कांग्रेस और हिन्दू महासभा ने इस निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। गांधी जी के आमरण अनशन के कारण पूना समझौता 1932 में हुआ। समस्या यह थी कि कांग्रेस और हिन्दू महासभा के राजनैतिक एजेंडे में दलित मुक्ति की कोई कार्य योजना नहीं थी। डा. अम्बेडकर ने कहा 'अछूतों' को डर है कि भारत की स्वतंत्रता हिन्दू राज स्थापित करेगी और अछूतों के लिए दरवाजे बन्द हो जायेंगे। पूना पैक्ट के पीछे अंग्रेज, गांधी और अन्य हिन्दू नेताओं की मंशा साफतौर पर दलित वर्गों को हिन्दुत्व की परिधि में रखने की थी। पूना पैक्ट के बाद दलित राजनीति को गांधी जी ने भी स्वीकार किया और उन्हें 'हरिजन' नाम दिया।[10] महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए काम किया साथ ही दलितों को हिन्दुत्व की परिधि में लाने का प्रयास किया। ऐतिहासिक साक्ष्य इस ओर संकेत करते हैं गांधी जी के इन कार्यों से प्रभावित होकर कई सवर्ण भी उनके मिशन से जुड़े। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि गाँधी जी के इन कार्यों को कांग्रेस ने अम्बेडकर विरोधी चेतना के रूप में विकसित किया।

यदि हिन्दुओं में दलितों के लिए किसी ने अम्बेडकर के अतिरिक्त आंदोलन चलाने की पहल की तो वह महात्मा गांधी थे। उन्होंने दलितों के कल्याण के लिये पूना पैक्ट के पश्चात् 30 सितम्बर, 1932 को हरिजन सेवक संघ की स्थापना की थी। गांधी जी ने अपने कार्यक्रमों में अछूतों के उत्थान के लिए पाठशालाएँ खोलने तथा मंदिर में प्रवेश देने पर जोर दिया।[11] गांधी जी डा. अम्बेडकर के दलित आंदोलन से चिन्तित थे। उन्होंने महाड़ सत्याग्रह पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी थी। वे इस महानतम दलित क्रान्ति की घटना पर भी मौन थे जैसे कुछ हुआ ही नहीं। गांधी जी के विचारों में परिवर्तन पूना पैक्ट के दौरान आया। उन्होंने यह महसूस किया छुआछूत दूर होनी चाहिए। उन्हें मंदिरों तथा स्कूलों में प्रवेश मिलना चाहिए। लेकिन निजी जीवन में गांधी जी वर्णव्यवस्था को एक आदर्श मानते थे और धर्मशास्त्रों की पवित्रता में विश्वास करते थे। वे अन्तर्जातीय विवाह और भोज के पक्ष में नहीं थे। हरिजन उद्धार के सम्बन्ध में बारडोली कार्यक्रम बनाया जिसके अनुसार अछूतों के लिए अलग स्कूलों और कुओं के निर्माण का प्रावधान था।[12] गांधी के विचारों से स्पष्ट है कि गांधी अछूतों के

उत्थान के लिए तो कार्य करना चाहते थे परन्तु समाज में अस्पृश्यता का निवारण नहीं करना चाहते थे जबकि मूल समस्या सामाजिक अस्पृश्यता की थी जिसे दूर करने का कोई उपाय उनके पास नहीं था।

स्वतंत्रता के पश्चात् दलित राजनीति में कोई विशेष क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं दिखायी देता है। कांग्रेस ने ही दलितों का नेतृत्व किया। वास्तविकता यह थी कि सुरक्षित सीटों पर कोई भी उम्मीदवार तभी जीत सकता था जब मुस्लिम और सवर्ण वोट भी उसे मिले। अतः सुनिश्चित जीत के लिए दलित उम्मीदवार कांग्रेस से जुड़े। कांग्रेस इस कमजोरी से भली–भाँति परिचित थी। अतः उसने ऐसे दलित उम्मीदवारों का चयन किया जो अम्बेडकर विरोधी और गांधी के हरिजन उद्धार कार्यक्रम के समर्थक थे। कांग्रेस ने इसी क्रम में जगजीवनराम जी को राजनीति में उतारा। जगजीवनराम ने कई अवसरों पर बाबा साहब अम्बेडकर की आलोचना भी की लेकिन 1970 तक जगजीवनराम जी के विचारों में परिवर्तन दिखायी देता है।[13] उन्होंने यह अनुभव किया कि बिना अम्बेडकर के दलित राजनीति का आगे नहीं ले जाया जा सकता है। 1960 के दशक में दलित राजनीति में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। इस काल में वैकल्पिक दलित राजनीति का प्रारम्भ हुआ जब भारतीय रिपब्लिक पार्टी ने महाराष्ट्र, दिल्ली और उत्तर भारत के दलितों, पिछड़ों अल्पसंख्यक समुदायों में अपना जनाधार तैयार किया। इस पार्टी ने दलित वर्ग की आर्थिक समस्याओं को उठाकर दलित राजनीति को नई दिशा दी। यहाँ पर फिर वामपंथी दलों ने इस आंदोलन को समर्थन नहीं दिया और कई बड़े दलित नेता सत्ता के मोह में फंस कर कांग्रेस से जा मिले। इसी समय रेडिकल वामपंथी (नक्सलवाद) का उदय हुआ जो सामंतवाद के खिलाफ था इससे भूमिहीन दलितों को संघर्ष के लिए नई ताकत मिली। 1969 में कांग्रेस में इंदिरा गांधी के खिलाफ बगावत हो गयी। मध्यमवर्गीय और सामंती विचारधारा के लोग इससे अलग हो गये। इसी समय इंदिरा गांधी ने जगजीवनराम को अध्यक्ष बनाकर असली कांग्रेस का गठन किया। इस समय दलित कांग्रेस से आकर जुड़ गये।

1975 के दौरान देश में आपातकाल लगाया गया जिसका चारों ओर विरोध हुआ। जगजीवनराम को भी कांग्रेस में घुटन होने लगी। अतः 1976 में वे कांग्रेस से बाहर निकल आये। अब दलित वर्ग कांग्रेस और इंदिरा गांधी का विरोधी हो गया। 1977 में जनता पार्टी ने चुनाव में जगजीवनराम को प्रधानमंत्री के रूप में पेश किया। उन्होंने दलित वोट बैंक तो प्राप्त कर लिये लेकिन चुनाव के बाद जगजीवनराम को किनारे कर मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री बनाया। नये राजनीतिक समीकरण में भी दलितों के साथ विश्वासघात ही हुआ। 1979 में जनता सरकार का भी पतन हो गया। सरकार गिरने के बाद जगजीवनराम ने सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत किया परन्तु राष्ट्रपति ने उसे नामंजूर करते हुए लोकसभा भंग कर दी। उत्तर प्रदेश में भी जनता पार्टी द्वारा पुनः एक ऐसा ही एक नाटक फिर खेला गया, जिसमें दलित नेता रामधन को मुख्यमंत्री के रूप में प्रस्तुत किया गया, परन्तु सवर्ण नेतृत्व में रामनरेश को मुख्यमंत्री बना दिया गया।

दलित आंदोलन अपनी अस्मिता के लिए निरन्तर संघर्षरत था। उसे अस्तित्व बनाने के लिए एक अवसर तब मिला जब 1980 में कांशीराम ने बामसेफ (बैकवर्ड एण्ड मायनारिटीज शेड्यूल्ड कास्ट इंप्लाई फेडरेशन) का गठन किया। कांशीराम ने दलित वर्गों को 'बहुजन' कहा और व्यवस्था से लाभ लेने वालों को 'मनुवादी' कहा। 1981 में कांशीराम ने डी.एस.–4 (दलित समाज शोषित संघर्ष समिति) की स्थापना की। सम्मान और समानता का नारा देते हुए डी.एस.–4 की राजनैतिक सफलता से प्रेरित होकर कांशीराम ने बहुजन समाजपार्टी की स्थापना की। कांशीराम ने 1988 तक अस्पृश्यता, अन्याय, असुरक्षा और असमानता के विरूद्ध एक सघन कार्यक्रम का संचालन किया। कांशीराम जी ने फिर से एक बार दलित राजनीति को केन्द्र में ला दिया।[14] कांशीराम जी ने मण्डल आयोग

सिफारिशों को लागू करने के लिए पिछड़ी जातियों को आंदोलित किया। उन्होंने पिछड़ी जातियों को अहसास कराया कि उनकी आबादी सर्वाधिक है और ब्राह्मण उनके बल पर ही सत्ता में बने हुए हैं। उन्होंने दलित मुसलमानों की बदहाली का प्रश्न उठाया जिन पर उच्चवर्ग के मुस्लिम शासन कर रहे थे। इसी तरह उन्होंने दलित ईसाइयों और दलित सिक्खों को भी ब.स.पा. से जोड़ने के लिए आंदोलन चलाया। कांशीराम की प्रसिद्ध पुस्तक 'चमचा युग' ने राजनैतिक गलियारों में तहलका मचा दिया इस पुस्तक में ब्राह्मण राजनीति की पिछलग्गू राजनीति पर विस्तार से चर्चा की गयी है।[15] बाबा साहब की भांति कांशीराम भी जातीय भेदभाव समाप्त करना चाहते थे उन्होंने कहा, ''हम आत्मसम्मान के लिए तभी सोच पायेंगे जबकि हमारी इसी धरती से उच्च जाति और निम्न जाति खत्म हो जायें।'' वे आगे कहते हैं कि, ''मेरा संघर्ष जाति व वर्ग संघर्ष है। मैं कहना चाहूँगा कि जाति दुराग्रहों के कारण के कारण ही यहाँ वर्ग संघर्ष सफल नहीं हो रहा है।''[16]

दलित राजनीति में 1990 से प्रतिक्रिया का दौर शुरू हो जाता है। अब सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय का मुद्दा उठने लगा। मण्डल कमीशन की सिफारिशों के आधार पर दलित पिछड़ी जातियों को शासन–प्रशासन में भागीदारी (सुप्रीम कोर्ट द्वारा कुछ स्थानों पर प्रतिबन्ध के साथ) प्राप्त हुई। इसी समय से दलित, पिछड़ों एवं अल्पसंख्यकों को ध्रुवीकरण दिखायी देने लगता है। इधर 1990 के दशक में हिन्दुत्व आंदोलन भी आगे आया। बाबरी मस्जिद ध्वंस ने सारे देश का सामाजिक सद्भाव बिगाड़ा। यह दलित और पिछड़ी जातियों की सामाजिक क्रान्ति का जवाब था। 1991 में भा.ज.पा. और संघ परिवार ने देखा कि मण्डल का मामला जोर पकड़ रहा है। तो उन्होंने राम मन्दिर का मुद्दा उठाकर पुनः माहौल को गर्म किया।

नवम्बर, 1993 में भारतीय समाज में एक जबरदस्त ध्रुवीकरण हुआ जब समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष मुलायम सिंह यादव और ब.स.पा. अध्यक्ष कांशीराम के बीच ऐतिहासिक गठबन्धन हुआ। निश्चित रूप से गठबन्धन भा.ज.पा. के खिलाफ हुआ था जो उन्हें सत्ता से बाहर का रास्ता दिखा रहा था। इस चुनाव में दलितों पर जबरदस्त अत्याचार हुए उन्हें वोट डालने से रोकने का प्रयास किया गया। पहली बार विधानसभा में सर्वाधिक दलित प्रतिनिधि चुने गये। मुलायम सिंह ने कांटों भरा ताज पहन तो लिया परन्तु सवर्ण लोग इस गठबन्धन को ज्यादा समय तक नहीं देख सके। अतः उन्होंने मायावती को सत्ता का लालच देकर उन्हें मुख्यमंत्री बनाया। इतिहास में पहली बार एक दलित महिला मुख्यमंत्री बनी। लेकिन यह गठजोड़ उनसे था जिन्हें मनुवादी कहकर दलित वर्गों से वोट मांगा गया था। यह एक ऐसा घृणित राजनैतिक खेल था जिसमें सवर्णों की पुनः जीत हुई। यही प्रयोग 2007 में किया गया जब दलित राजनीति को ब्राह्मणों से जोड़ गया और पुनः मायावती मुख्यमंत्री बनी। कांशीराम जी ने जिसे 'बहुजन समाज' कहा उसी राजनैतिक सत्ता के लाभ के लिए उसका नाम बदलकर 'सर्वजन समाज' कर दिया गया। सही मायनों में यदि कांशीराम जी के विचारों को देखें तो हम पायेंगे कि वह दलित और पिछड़ों के सामाजिक समानता एवं न्याय के पोषक थे। उनका विचार पूरी तरह से समाज सुधारक के रूप में थे परन्तु उसके लिए राजनीति शक्ति की आवश्यकता थी। समय की यह कैसी विडम्बना थी कि राजनैतिक शक्ति सवर्ण राजनीति का शिकार हो गयी और समाज सुधार का मुद्दा पीछे छूट गया।

आजादी के बाद आम दलित वर्ग की सोच इतने तक ही सीमित रह गयी कि संविधान में आरक्षण का प्रावधान है इसलिए नौकरियों में आरक्षण को पूर्ण किया जाना चाहिए। उसका लाभ दलित वर्ग ने अवश्य उठाया। परन्तु क्या नौकरियों में आने से शोषण बन्द हो गया शायद नहीं, दलित वर्ग पेन्ट शर्ट टाई कोट पहनकर अपने अछूतपन को ढाकने को कोशिश करता रहा परन्तु यह तो अजीब सी बात है कि समाज के नजरिये में आपेक्षित बदलाव नहीं आया। उसका ऐतिहासिक चरित्र उसका

कभी पीछा ही नहीं छोड़ता। उसे समाज के अन्य वर्ग द्वारा समय–समय यह एहसास कराया जाता है कि वह दलित है, और चाहे वह कुछ भी कर ले वह आज भी समाज की वर्णव्यवस्था में अन्तिम पायदान पर खड़ा हुआ है। जहाँ तक सवर्ण समाज की मानसिकता का प्रश्न है यह बड़े खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि मानसिकता में बदलाव ऊपरी तौर पर है परन्तु आन्तरिक रूप से नहीं। उत्तर प्रदेश में हाल ही में 'मिड डे मील' प्रकरण सामने आया जिसके अन्तर्गत एक दलित महिला द्वारा बनाया गया भोजन स्कूल के बच्चों ने नहीं ग्रहण किया। अधिकारियों ने उस दलित महिला रसोइये को हटा दिया।[17] यह तो एक उदाहरण मात्र है, ना जाने कितने मामले प्रकाश में ही नहीं आते। इस तरह सवर्ण मानसिकता के नजरिये में बदलाव की बात करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

दलित आंदोलन के पिछले 60 वर्षों के इतिहास पर नजर डालें तो एक ही सकारात्मक पहलू दृष्टिगत होता है, वह है राजनैतिक चेतना का प्रसार। आजादी के समय दलित व्यक्ति अपनी जाति छिपाता परन्तु अब वह समाज में बिना किसी शर्म के अपने को दलित बताता है। यह राजनैतिक चेतना का ही प्रभाव है कि एक राज्य में एक दलित महिला 4 बार मुख्यमंत्री बनीं। कुछ दलित राज्यों के राज्यपाल, कुछ आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्य इत्यादि बने। दलित समाज के कई नेतागण अपने को अम्बेडकर, जगजीवनराम, कांशीराम का अनुयायी बताकर जनता की सहानुभूति बटोरकर खुद के लिए राजनीतिक मंच तैयार करते हैं। लेकिन समाज को इनसे न कोई लाभ है और न ही समाज को इनकी कोई देन है। दलितों की समस्या सामाजिक न्याय की है जिसकी सभी उपेक्षा करते आ रहे हैं। दलित समाज के सामने सिर्फ वाह्य आडम्बर किये जो रहे हैं ठोस कुछ भी ऐसा नहीं जो उल्लेखनीय हो। हाल ही में उत्तर में अम्बेडकर उद्यान उसी का उदाहरण है जहाँ पहले बनवाने में करोड़ों रूपया पानी की तरह बहाया गया और तुड़वाकर पुनः नये सिरे से बनवाया गया। दलित चेतना एवं स्वाभिमान की स्थापना हेतु स्मारकों का निर्माण सराहनीय व उचित दर्शन का द्योतक है, गौरवशाली इतिहास निर्माण एवं अपनी पहचान भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए स्थापित करना हर वर्ग का विशेषाधिकार है और इतिहास इसका गवाह भी है, वही समाज और संस्कृतियाँ इतिहास में हावी रहीं। परन्तु इसके साथ ही इसी प्रदेश की राजधानी में दलित छात्र एक अत्यन्त जीर्ण हालत में (एक ही कमरे में कई छात्र) जानवरों की भांति रह रहे हैं।[18] क्या हम इन छात्रों से यह उम्मीद कर पायेंगे कि आगे आने वाले समय में राष्ट्र की प्रगति में उल्लेखनीय योगदान दे पायेंगे। अधिकांश ऐसे दलित छात्र काफी दूर ग्रामीण अंचलों से आते हैं जो सिर्फ सरकारी छात्रवृत्ति पर ही निर्भर होते हैं। आगे चलकर इन्हीं छात्रों का मुकाबला सम्पन्न घरानों के दलित छात्रों से होता है। ऐसे में क्या यह छात्र किसी प्रतियोगी परीक्षा में सफल हो पायेंगे?

वर्तमान समय में दलित समाज अपने ही अन्दर विभक्त हो चुका है। राजनैतिक रूप से समाज एक दिखायी देता है परन्तु अन्दर ही अन्दर जातियों में विभक्त है जहाँ रोटी का सम्बन्ध तो दिखायी देता है परन्तु अपनी बेटी के लिए वह जाति में बंधा हुआ है। एक महत्वपूर्ण परिवर्तन जो हर जाति में देखने को मिलता है वह है जाति के अन्दर वर्ग विभाजन यह गरीब और अमीर इस खायी को बढ़ाते हैं। बच्चन सिंह अपनी पुस्तक 'भारत में जाति प्रथा और दलित ब्राह्मणवाद' में दलित ब्राह्मण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि, ''दलित विमर्श ले देकर एक ही बिन्दु पर केन्द्रित है कि सवर्णों ने हजारों साल से दलितों पर अत्याचार किये और यह कि दलित साहित्य केवल दलित ही लिख सकते हैं। दलित विमर्श के ठेकेदार इस बात पर विचार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि दलितों का एक वर्ग खुद दलितों के लिए ही अस्पृश्य क्यों है?[19] इन्हें यह भी नहीं दिखायी दे रहा कि दलितों में भी एक प्रमुख वर्ग पैदा हो गया है जो ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रसित है और जिसके लिए शेष दलित समाज उपेक्षित है। रोटी बेटी का रिश्ता बनाने लायक नहीं है। यह सुविधाहीन और विभिन्न

दलित अपने बीच के प्रमुख वर्ग की प्रजा है। यह प्रजा सिर्फ वोट बैंक है जिसे आँख मूंद कर बैलेट पेपर पर ठप्पा लगा देना है।'' बच्चन सिंह दलित ब्राह्मणवाद को सवर्ण ब्राह्मणवाद से अधिक खतरनाक मानते हैं। दलित वर्ग को सिर्फ वोट बैंक की राजनीति से बचना चाहिए और सवर्णों से लड़ने के बजाय अपना आर्थिक और सामाजिक ढाँचा ऊँचा उठाने का प्रयास करना चाहिए। शिक्षा और सम्पन्नता ही उन्हें समस्याओं से निजात दिला सकती है। मोहनदास नैमिशराय दलितों के आरक्षण के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि दलितों को राजनीतिक आरक्षण इस उद्देश्य से दिया गया है कि आरक्षित लोकसभा व विधानसभा से निर्वाचित दलित नेता दलितों के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनैतिक हकों की लड़ाई लड़ेंगे और उनके अधिकारों को सुरक्षित रखेंगे किन्तु ऐसा नहीं हुआ। देश की राजनीति में दलित समाज के प्रमुख नेतागण अपने को बाबा साहब डा. अम्बेडकर के अनुयायी तो कहते हैं, पर दलितों की सामूहिक समस्याओं और अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए एक मंच पर आने को तैयार नहीं हैं। फिर इनसे दलित समाज क्या आशा करे?''[20]

## निष्कर्ष

उपरोक्त सारगर्भित विश्लेषण से स्पष्ट है कि दलित वर्ग की राजनीति में आजादी के बाद कई ऐसे अवसर आये जब उन्हें सामाजिक न्याय और समानता मिलती हुई दिखायी देती है, परन्तु जीत उनके हाथ से फिसलकर सवर्णों के हाथ में जा पहुँची। सम्पूर्ण सवर्ण राजनीति उन्हें सत्ता से वंचित रखने के लिए रची जाती रही है। उनकी भावनाओं का खिलवाड़ करते हुए राजनैतिक लाभ के लिए उनका प्रयोग किया गया और उसके पश्चात उन्हें दरकिनार किया जाता रहा है। हर बार उन्हें छला गया, कभी सवर्णों द्वारा तो कभी अपनों द्वारा लेकिन इतना होने के उपरान्त भी इनके आंदोलन को दबाया नहीं जा सका। साथ ही एक तथ्य और स्पष्ट होता है कि दलितों की समस्या का समाधान राजनैतिक शक्ति से नहीं किया जा सकता है। दलित अभी इस बात को ठीक से समझ नहीं पाये हैं। हमें भ्रष्ट दलित राजनीति से मुक्ति की राहें तलाशनी ही पड़ेंगी। हमें आवश्यकता है एक ऐसे दलित आंदोलन की जा समाज की शक्ति से नियंत्रित हो, जो समय आने पर मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को वास्तविकता में परिवर्तित कर सड़कों पर अपने अधिकार पाने के लिए मुट्ठी तानकर खड़ा हो सके।

## संदर्भ सूची

1. लाल बहादुर वर्मा, इतिहास के बारे में, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ–121
2. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (1985–1947), हिन्दी अनुवाद, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ–5
3. लाल बहादुर वर्मा, इतिहास के बारे में, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ–122
4. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृष्ठ–59
5. वही पृष्ठ–60
6. बाबा साहेब ने कहा था, आनन्द साहित्य सदन, अलीगढ़, पाँचवा संस्करण, 2001, पृष्ठ–51
7. डा. आंबेडकर जन्म शताब्दी स्मारिका, 1992, झांसी, पृष्ठ–77
8. अभय कुमार दुबे (संपादक), आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ–231
9. वही पृष्ठ–234
10. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृष्ठ–63
11. वही पृष्ठ–63
12. वही पृष्ठ–64

13. वही पृष्ठ–81
14. वही पृष्ठ–89
15. मा. कांशीराम, चमचा युग, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, 2007, पृष्ठ–90 एवं 91
16. अनुज कुमार (संपादक), बहुजन नायक कांशीराम के अविस्मरणीय भाषण, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2007, पृष्ठ–93 एवं 94
17. हिन्दुस्तान दैनिक समाचार लखनऊ, नगर संस्करण, 20 दिसम्बर, 2007
18. हिन्दुस्तान दैनिक समाचार लखनऊ, नगर संस्करण, 20 दिसम्बर, 2007
19. बच्चन सिंह, भारत में जाति प्रथा और दलित ब्राह्मणवाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृष्ठ–VIII
20. मोहनदास नैमिशराय, भारतीय दलित आन्दोलन एक संक्षिप्त इतिहास, बुक्स फार चेंज, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ–97